

## वशिष्ठ-भरत संवाद, श्री रामजी को लाने के लिए चित्रकूट जाने की तैयारी

चौपाई :

\*\*\* नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥ गाहि पदभरत मातु सब राखी।  
रहीं रानि दरसन अभिलाषी॥1॥

भावार्थ:

वेदों में बताई हुई विधि से राजा की देह को स्नान कराया गया और परम विचित्रविमान बनाया गया। भरतजी ने सब माताओं को चरण पकड़कर रखा (अर्थात् प्रार्थना करके उनको सती होने से रोक लिया)। वे रानियाँ भी (श्री राम के) दर्शन की अभिलाषा से रह गईं॥1॥

\*\*\* चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥ सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु  
सुरपुर सोपान सुहाई॥2॥

भावार्थ:

चंदन और अगर के तथा और भी अनेकों प्रकार के अपार (कपूर, गुग्गुलु, केसर आदि) सुगंध द्रव्यों के बहुत से बोझ आए। सरयूजी के तट पर सुंदर चिता रचकर बनाई गई, (जो ऐसी मालूम होती थी) मानो स्वर्ग की सुंदर सीढ़ी हो॥2॥

\*\*\* एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥ सोधि सुमृति सब बेद  
पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥3॥

भावार्थ:

इस प्रकार सब दाह क्रिया की गई और सबने विधिपूर्वक स्नान करके तिलांजलि दी। फिर वेद, स्मृति और पुराण सबका मत निश्चय करके उसके अनुसार भरतजी ने पिता का दशगात्र विधान (दस दिनों के कृत्य) किया॥3॥

\*\*\* जहँ जस मुनिबर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सबु कीन्हा॥ भए बिसुद्ध दिए सब  
दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥4॥

भावार्थ:

मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ भरतजी ने सब वैसा ही हजारों प्रकार से किया। शुद्ध हो जाने पर (विधिपूर्वक) सब दान दिए। गायें तथा घोड़े, हाथी आदि अनेक प्रकार की सवारियाँ,॥4॥

दोहा :

\*\*\* सिंघासन भूषन बसन अन्न धरनि धन धाम। दिए भरत लहि भूमिसुर भे परिपूरन  
काम॥170॥

भावार्थ:

सिंहासन, गहने, कपड़े, अन्न, पृथ्वी, धन और मकान भरतजी ने दिए, भूदेव ब्राह्मण दान पाकर परिपूर्णकाम हो गए (अर्थात् उनकी सारी मनोकामनाएँ अच्छी तरह से पूरी हो गईं)॥170॥

चौपाई :

\*\*\* पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥ सुदिनु सोधि मुनिबर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥1॥

भावार्थ:

पिताजी के लिए भरतजी ने जैसी करनी की वह लाखों मुखों से भी वर्णन नहीं की जा सकती। तब शुभ दिन शोधकर श्रेष्ठ मुनि वशिष्ठजी आए और उन्होंने मंत्रियों तथा सब महाजनों को बुलवाया॥1॥

\*\*\* बैठे राजसभाँ सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई॥ भरतु बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे॥2॥

भावार्थ:

सब लोग राजसभा में जाकर बैठ गए। तब मुनि ने भरतजी तथा शत्रुघ्नजी दोनों भाइयों को बुलवा भेजा। भरतजी को वशिष्ठजी ने अपने पास बैठा लिया और नीति तथा धर्म से भरे हुए वचन कहे॥2॥

\*\*\* प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकड़ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥ भूप धरमुब्रतु सत्य सराहा। जेहिं तनु परिहरि प्रेम निबाहा॥3॥

भावार्थ:

पहले तो कैकेयी ने जैसी कुटिल करनी की थी, श्रेष्ठ मुनि ने वह सारी कथा कही। फिर राजा के धर्मव्रत और सत्य की सराहना की, जिन्होंने शरीर त्याग कर प्रेम को निबाहा॥3॥

\*\*\* कहत राम गुन सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥ बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी॥4॥

भावार्थ:

श्री रामचन्द्रजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करते-करते तो मुनिराज के नेत्रों में जल भर आया और वे शरीर से पुलकित हो गए। फिर लक्ष्मणजी और सीताजी के प्रेम की बड़ाई करते हुए जानी मुनि शोक और स्नेह में मग्न हो गए॥4॥

दोहा :

\*\*\* सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥171॥

भावार्थ:

मुनिनाथ ने बिलखकर (दुःखी होकर) कहा- हे भरत! सुनो, भावी (होनहार) बड़ी बलवान है। हानि-

लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश, ये सब विधाता के हाथ हैं॥171॥

चौपाई :

\*\*\* अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥ तात बिचारु करहु मन माहीं।  
सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥1॥

भावार्थ:

ऐसा विचार कर किसे दोष दिया जाए? और व्यर्थ किस पर क्रोध किया जाए? हे तात! मन में विचार करो। राजा दशरथ सोच करने के योग्य नहीं हैं॥1॥

\*\*\* सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥ सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥2॥

भावार्थ:

सोच उस ब्राह्मण का करना चाहिए, जो वेद नहीं जानता और जो अपना धर्म छोड़कर विषय भोग में ही लीन रहता है। उस राजा का सोच करना चाहिए, जो नीति नहीं जानता और जिसको प्रजा प्राणों के समान प्यारी नहीं है॥2॥

\*\*\* सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥ सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी॥3॥

भावार्थ:

उस वैश्य का सोच करना चाहिए, जो धनवान होकर भी कंजूस है और जो अतिथि सत्कार तथा शिवजी की भक्ति करने में कुशल नहीं है। उस शूद्र का सोच करना चाहिए, जो ब्राह्मणों का अपमान करने वाला, बहुत बोलने वाला, मान-बड़ाई चाहने वाला और ज्ञान का घमंड रखने वाला है॥3॥

\*\*\* सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥ सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥4॥

भावार्थ:

पुनः उस स्त्री का सोच करना चाहिए जो पति को छलने वाली, कुटिल, कलहप्रिय और स्वेच्छा चारिणी है। उस ब्रह्मचारी का सोच करना चाहिए, जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़ देता है और गुरु की आज्ञा के अनुसार नहीं चलता॥4॥

दोहा :

\*\*\* सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग। सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥172॥

भावार्थ:

उस गृहस्थ का सोच करना चाहिए, जो मोहवश कर्म मार्ग का त्याग कर देता है, उस संन्यासी का सोच करना चाहिए, जो दुनिया के प्रपंच में फँसा हुआ और ज्ञान-वैराग्य से हीन है॥172॥

चौपाई :

\*\*\* बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥ सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी।  
जननि जनक गुर बंधु बिरोधी॥1॥

भावार्थ:

वानप्रस्थ वही सोच करने योग्य है, जिसको तपस्या छोड़कर भोग अच्छे लगते हैं। सोच उसका करना चाहिए जो चुगलखोर है, बिना ही कारण क्रोध करने वाला है तथा माता, पिता, गुरु एवं भाई-बंधुओं के साथ विरोध रखने वाला है॥1॥

\*\*\* सब बिधि सोचिअ पर अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥ सोचनीय सबहीं बिधि सोई।  
जो न छाड़ि छलु हरि जन होई॥2॥

भावार्थ:

सब प्रकार से उसका सोच करना चाहिए, जो दूसरों का अनिष्ट करता है, अपने ही शरीर का पोषण करता है और बड़ा भारी निर्दयी है और वह तो सभी प्रकार से सोच करने योग्य है, जो छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता॥2॥

\*\*\* सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ भयउ न अहइ न अब होनिहारा।  
भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥3॥

भावार्थ:

कोसलराज दशरथजी सोच करने योग्य नहीं हैं, जिनका प्रभाव चौदहों लोकों में प्रकट है। हे भरत! तुम्हारे पिता जैसा राजा तो न हुआ, न है और न अब होने का ही है॥3॥

\*\*\* बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥4॥

भावार्थ:

हब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र और दिक्पाल सभी दशरथजी के गुणों की कथाएँ कहा करते हैं॥4॥

दोहा :

\*\*\* कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहि बड़ाई तासु। रामलखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि  
जासु॥173॥

भावार्थ:

हे तात! कहो, उनकी बड़ाई कोई किस प्रकार करेगा, जिनके श्री राम, लक्ष्मण, तुम और शत्रुघ्न-सरीखे पवित्र पुत्र हैं?॥173॥

चौपाई :

\*\*\* सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषादु करिअ तेहि लागी॥ यह सुनि समुझि सोचु परिहरहू।  
सिर धरि राज रजायसु करहू॥॥

भावार्थ:

राजा सब प्रकार से बड़भागी थे। उनके लिए विषाद करना व्यर्थ है। यह सुन और समझकर सोच

त्याग दो और राजा की आज्ञा सिर चढ़ाकर तदनुसार करो॥1॥

\*\*\* रायँ राजपदु तुम्ह कहूँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥ तजे रामु जेहिं बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥2॥

भावार्थ:

राजा ने राज पद तुमको दिया है। पिता का वचन तुम्हें सत्य करना चाहिए, जिन्होंने वचन के लिए ही श्री रामचन्द्रजी को त्याग दिया और रामविरह की अग्नि में अपने शरीर की आहुति दे दी॥2॥

\*\*\* नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥ करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥3॥

भावार्थ:

राजा को वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय नहीं थे, इसलिए हे तात! पिता के वचनों को प्रमाण (सत्य) करो! राजा की आज्ञा सिर चढ़ाकर पालन करो, इसमें तुम्हारी सबतरह भलाई है॥3॥

\*\*\* परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥ तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥4॥

भावार्थ:

परशुरामजी ने पिता की आज्ञा रखी और माता को मार डाला, सब लोक इस बात के साक्षी हैं। राजा ययाति के पुत्र ने पिता को अपनी जवानी दे दी। पिता की आज्ञा पालन करनेसे उन्हें पाप और अपयश नहीं हुआ॥4॥

दोहा :

\*\*\* अनुचित उचित बिचारु तजि ते पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥174॥

भावार्थ:

जो अनुचित और उचित का विचार छोड़कर पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे (यहाँ) सुख और सुयश के पात्र होकर अंत में इन्द्रपुरी (स्वर्ग) में निवास करते हैं॥174॥

चौपाई :

\*\*\* अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू॥ सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू। तुम्ह कहूँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू॥॥

भावार्थ:

राजा का वचन अवश्य सत्य करो। शोक त्याग दो और प्रजा का पालन करो। ऐसा करने से स्वर्ग में राजा संतोष पावेंगे और तुम को पुण्य और सुंदर यश मिलेगा दोष नहीं लगेगा॥1॥

\*\*\* बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥ करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥2॥

भावार्थ:

यह वेद में प्रसिद्ध है और (स्मृति-पुराणादि) सभी शास्त्रों के द्वारा सम्मत है कि पिता जिसको दे वही राजतिलक पाता है, इसलिए तुम राज्य करो, ग्लानि का त्याग कर दो। मेरे वचन को हित समझकर मानो॥2॥

\*\*\* सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं। अनुचित कहब न पंडित केहीं॥ कौसल्यदि सकल महतारीं। तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारीं॥3॥

भावार्थ:

इस बात को सुनकर श्री रामचन्द्रजी और जानकीजी सुख पावेंगे और कोई पंडित इसे अनुचित नहीं कहेगा। कौसल्याजी आदि तुम्हारी सब माताएँ भी प्रजा के सुख से सुखी होंगी॥

\*\*\* परम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥ सौंपेहु राजु राम के आएँ। सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥4॥

भावार्थ:

जो तुम्हारे और श्री रामचन्द्रजी के श्रेष्ठ संबंध को जान लेगा, वह सभी प्रकार से तुमसे भला मानेगा। श्री रामचन्द्रजी के लौट आने पर राज्य उन्हें सौंप देना और सुंदर स्नेह से उनकी सेवा करना॥4॥

दोहा :

\*\*\* कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि। रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥175॥

भावार्थ:

मंत्री हाथ जोड़कर कह रहे हैं- गुरुजी की आज्ञा का अवश्य ही पालन कीजिए। श्री रघुनाथजी के लौट आने पर जैसा उचित हो, तब फिर वैसा ही कीजिएगा॥175॥

चौपाई :

\*\*\* कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥ सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥1॥

भावार्थ:

कौसल्याजी भी धीरज धरकर कह रही हैं- हे पुत्र! गुरुजी की आज्ञा पथ्य रूप है। उसका आदर करना चाहिए और हित मानकर उसका पालन करना चाहिए। काल की गति को जानकर विषाद का त्याग कर देना चाहिए॥1॥

\*\*\* बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥ परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा॥2॥

भावार्थ:

श्री रघुनाथजी वन में हैं, महाराज स्वर्ग का राज्य करने चले गए और हे तात! तुम इस प्रकार कातर हो रहे हो। हे पुत्र! कुटुम्ब, प्रजा, मंत्री और सब माताओं के, सबके एक तुम ही सहारे हो॥2॥

\*\*\* लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥ सिर धरि गुर आयसु  
अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू ॥

भावार्थ:

विधाता को प्रतिकूल और काल को कठोर देखकर धीरज धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है। गुरु की आज्ञा को सिर चढ़ाकर उसी के अनुसार कार्य करो और प्रजा का पालन कर कुटुम्बियों का दुःख हरो॥3॥

\*\*\* गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥ सुनी बहोरि मातु मृदु  
बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥4॥

भावार्थ:

भरतजी ने गुरु के वचनों और मंत्रियों के अभिनंदन (अनुमोदन) को सुना, जो उनके हृदय के लिए मानो चंदन के समान (शीतल) थे। फिर उन्होंने शील, स्नेह और सरलता के रस में सनी हुई माता कौसल्या की कोमल वाणी सुनी॥4॥ छंद :

\*\*\* सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भए। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर  
अंकुर नए॥ सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की। तुलसी सराहत सकल सादर  
सीवँ सहज सनेह की॥

भावार्थ:

सरलता के रस में सनी हुई माता की वाणी सुनकर भरतजी व्याकुल हो गए। उनके नेत्रकमल जल (आँसू) बहाकर हृदय के विरह रूपी नवीन अंकुर को सींचने लगे। (नेत्रों के आँसुओं ने उनके वियोग-दुःख को बहुत ही बढ़ाकर उन्हें अत्यन्त व्याकुल कर दिया।) उनकी वह दशा देखकर उस समय सबको अपने शरीर की सुध भूल गई। तुलसीदासजी कहते हैं- स्वाभाविक प्रेम की सीमा श्री भरतजी की सब लोग आदरपूर्वक सराहना करने लगे। सोरठा :

\*\*\* भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि। बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर  
सबहि॥176॥

भावार्थ:

धैर्य की धुरी को धारण करने वाले भरतजी धीरज धरकर, कमल के समान हाथों को जोड़कर, वचनों को मानो अमृत में डुबाकर सबको उचित उत्तर देने लगे-॥176॥ मासपारायण, अठारहवाँ विश्राम

चौपाई :

\*\*\* मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥ मातु उचित धरि आयसु दीन्हा।  
अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥1॥

भावार्थ:

गुरुजीने मुझे सुंदर उपदेश दिया। (फिर) प्रजा, मंत्री आदि सभी को यही सम्मत है। माता ने भी

उचित समझकर ही आज्ञा दी है और मैं भी अवश्य उसको सिर चढ़ाकर वैसा ही करना चाहता हूँ ॥३॥

\*\*\* गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किँँ बिचारु। धरमु जाइ सिर पातक भारु॥२॥

भावार्थ:

(क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और सुहृद् (मित्र) की वाणी सुनकर प्रसन्न मन से उसे अच्छी समझकर करना (मानना) चाहिए। उचित-अनुचित का विचार करने से धर्म जाता है और सिर पर पाप का भार चढ़ता है॥२॥

\*\*\* तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥ जद्यपि यह समुझत हँँ नीके। तदपि होत परितोष न जी केँ॥३॥

भावार्थ:

आप तो मुझे वही सरल शिक्षा दे रहे हैं, जिसके आचरण करने में मेरा भला हो। यद्यपि मैं इस बात को भलीभाँति समझता हूँ, तथापि मेरे हृदय को संतोष नहीं होता॥३॥

\*\*\* अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरतसिखावनु देहू॥ ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥४॥

भावार्थ:

अब आप लोग मेरी विनती सुन लीजिए और मेरी योग्यता के अनुसार मुझे शिक्षा दीजिए। मैं उत्तर दे रहा हूँ, यह अपराध क्षमा कीजिए। साधु पुरुष दुःखीमनुष्य के दोष-गुणों को नहीं गिनते।  
दोहा :

\*\*\* पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु। एहि तैं जानहु मोर ह्नि कै आपन बड़ काजु॥१७७॥

भावार्थ:

पिताजी स्वर्ग में हैं, श्री सीतारामजी वन में हैं और मुझे आप राज्य करने के लिए कह रहे हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना कोई बड़ा काम (होने की आशा रखते हैं)?॥१७७॥

चौपाई :

\*\*\* हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥ मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपायँ मोर हित नाहीं॥१॥

भावार्थ:

मेरा कल्याण तो सीतापति श्री रामजी की चाकरी में है, सो उसे माता की कुटिलता ने छीन लिया। मैंने अपने मन में अनुमान करके देख लिया है कि दूसरे किसी उपाय से मेरा कल्याण नहीं है॥१॥

\*\*\* सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥ बादि बसन बिनु भूषन भारु।

बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारु॥2॥

भावार्थ:

यह शोक का समुदाय राज्य लक्ष्मण, श्री रामचंद्रजी और सीताजी के चरणों को देखे बिना किस गिनती में है (इसका क्या मूल्य है)? जैसे कपड़ों के बिना गहनों का बोझ व्यर्थ है। वैराग्य के बिना ब्रह्मविचार व्यर्थ है॥2॥

\*\*\* सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा॥ जायँ जीव बिनु देह सुहाई।  
बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥3॥

भावार्थ:

रोगी शरीर के लिए नाना प्रकार के भोग व्यर्थ हैं। श्री हरि की भक्ति के बिना जप और योग व्यर्थ हैं। जीव के बिना सुंदर देह व्यर्थ है, वैसे ही श्री रघुनाथजी के बिना मेरा सब कुछ व्यर्थ है॥3॥

\*\*\* जाऊँ राम पहिँ आयसु देहू। एकाहिँ आँक मोर हित एहू॥ मोहि नृप करि भल आपन चहहू।  
सोउ सनेह जइता बस कहहू॥4॥

भावार्थ:

मुझे आज्ञा दीजिए, मैं श्री रामजी के पास जाऊँ! एक ही आँक (निश्चयपूर्वक) मेरा हित इसी में है। और मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं, यह भी आप स्नेह की जड़ता (मोह) के वश होकर ही कह रहे हैं॥4॥

दोहा :

\*\*\* कैकेई सुअ कुटिलमति राम बिमुख गतलाज। तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधम कें  
राज॥178॥

भावार्थ:

कैकेयी के पुत्र, कुटिलबुद्धि, रामविमुख और निर्लज्ज मुझ से अधम के राज्य से आप मोह के वश होकर ही सुख चाहते हैं॥178॥

चौपाई :

\*\*\* कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरमशील नरनाहू॥ मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा  
रसातल जाइहि तबहीं॥1॥

भावार्थ:

मैं सत्य कहता हूँ, आप सब सुनकर विश्वास करें, धर्मशील को ही राजा होना चाहिए। आप मुझे हठ करके ज्यों ही राज्य देंगे, त्यों ही पृथ्वी पाताल में धँस जाएगी॥1॥

\*\*\* मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥ रायँ राम कहूँ काननु दीन्हा।  
बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥2॥

भावार्थ:

मेरे समान पापों का घर कौन होगा, जिसके कारण सीताजी और श्री रामजी का वनवास हुआ? राजा

ने श्री रामजी को वन दिया और उनके बिछुड़ते ही स्वयं स्वर्ग को गमन किया॥2॥

\*\*\* मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू॥ बिन रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्राण सहि जग उपहासू॥3॥

भावार्थ:

और मैं दुष्ट, जो अनर्थों का कारण हूँ, होश-हवास में बैठा सब बातें सुन रहा हूँ। श्री रघुनाथजी से रहित घर को देखकर और जगत् का उपहास सहकर भी ये प्राण बने हुए हैं॥3॥

\*\*\* राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे॥ कहँ लागि कहीं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेहिं लही बड़ाई॥4॥

भावार्थ:

(इसका यही कारण है कि ये प्राण) श्री राम रूपी पवित्र विषय रस में आसक्त नहीं हैं। ये लालची भूमि और भोगों के ही भूखे हैं। मैं अपने हृदय की कठोरताकहाँ तक कहूँ? जिसने वज्र का भी तिरस्कार करके बड़ाई पाई है॥4॥

दोहा :

\*\*\* कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर। कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥179॥

भावार्थ:

कारण से कार्य कठिन होता ही है, इसमें मेरा दोष नहीं। हड्डी से वज्र और पत्थर से लोहा भयानक और कठोर होता है॥179॥

चौपाई :

\*\*\* कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर प्राण अघाइ अभागे॥ जाँ प्रिय बिरहँ प्राण प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥॥

भावार्थ:

कैकेयी से उत्पन्न देह में प्रेम करने वाले ये पामर प्राण भरपेट (पूरी तरह से) अभागे हैं। जब प्रिय के वियोग में भी मुझे प्राण प्रिय लग रहे हैं, तब अभी आगे मैं और भी बहुत कुछ देखूँ-सुनूँगा॥1॥

\*\*\* लखन राम सिय कहूँ बनू दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥ लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू॥2॥

भावार्थ:

लक्ष्मण, श्री रामजी और सीताजी को तो वन दिया, स्वर्ग भेजकर पति का कल्याण किया, स्वयं विधवापन और अपयश लिया, प्रजा को शोक और संताप दिया,॥2॥

\*\*\* मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥ ऐहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥B॥

भावार्थ:

और मुझे सुख सुंदर यश और उत्तम राज्य दिया! कैकेयी ने सभी का काम बना दिया! इससे अच्छा अब मेरे लिए और क्या होगा? उस पर भी आप लोग मुझे राजतिलक देने को कहते हैं!॥3॥

\*\*\* कैकड़ जठर जनमि जग माहीं। यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥ मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥4॥

भावार्थ:

कैकेयी के पेट से जगत् में जन्म लेकर यह मेरे लिए कुछ भी अनुचित नहीं है। मेरी सब बात तो विधाता ने ही बना दी है। (फिर) उसमें प्रजा और पंच (आप लोग) क्यों सहायता कर रहे हैं?॥4॥

दोहा :

\*\*\* ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार। तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥180॥

भावार्थ:

जिसे कुग्रह लगे हों (अथवा जो पिशाचग्रस्त हो), फिर जो वायुरोग से पीड़ित हो और उसी को फिर बिच्छू डंक मार दे, उसको यदि मदिरा पिलाई जाए, तो कहिए यह कैसा इलाज है!॥180॥

चौपाई :

\*\*\* कैकड़ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥ दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्ह मोहि बिधि बादि बड़ाई॥1॥

भावार्थ:

कैकेयी के लड़के के लिए संसार में जो कुछ योग्य था, चतुर विधाता ने मुझे वही दिया। पर 'दशरथजी का पुत्र और 'राम का छोटा भाई' होने की बड़ाई मुझे विधाता ने व्यर्थ ही दी॥1॥

\*\*\* तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। राय रजायसु सब कहँ नीका॥ उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥2॥

भावार्थ:

आप सब लोग भी मुझे टीका कढ़ाने के लिए कह रहे हैं! राजा की आज्ञा सभी के लिए अच्छी है। मैं किस-किस को किस-किस प्रकार से उत्तर दूँ? जिसकी जैसी रुचि हो, आप लोग सुखपूर्वक वही कहें॥2॥

\*\*\* मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई॥ मो बिनु को स्मराचर माहीं। जेहि सिय रामु प्रानप्रिय नाहीं॥3॥

भावार्थ:

मेरी कुमाता कैकेयी समेत मुझे छोड़कर, कहिए और कौन कहेगा कि यह काम अच्छा किया गया? जड़-चेतन जगत् में मेरे सिवा और कौन है, जिसको श्री सीता-रामजी प्राणों के समान प्यारे न हों॥3॥

\*\*\* परम हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहिं दूषन काहू ॥ संसय सील प्रेम बस अहहू।  
सबुड़ उचित सब जो कुछ कहहू ॥३॥

भावार्थ:

जो परम हानि है, उसी में सबको बड़ा लाभ दिख रहा है। मेरा बुरा दिन है किसी का दोष नहीं।  
आप सब जो कुछ कहते हैं सो सब उचित ही है, क्योंकि आप लोग संशय, शील और प्रेम के वश  
हैं ॥४॥

दोहा :

\*\*\* राम मातु सुठि सरलचित मो पर प्रेमु बिसेषि। कहइ सुभाय सनेह बसमोरि दीनता  
देखि ॥१८१॥

भावार्थ:

श्री रामचंद्रजी की माता बहुत ही सरल हृदय हैं और मुझ पर उनका विशेष प्रेम है, इसलिए मेरी  
दीनता देखकर वे स्वाभाविक स्नेहवश ही ऐसा कह रही हैं ॥१८१॥

चौपाई :

\*\*\* गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ॥ मो कहँ तिलक साज सज  
सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ ॥१॥

भावार्थ:

गुरुजी ज्ञान के समुद्र हैं, इस बात को सारा जगत् जानता है, जिसके लिए विश्व हथेली पर रखे हुए  
बेर के समान है, वे भी मेरे लिए राजतिलक का साज सज रहे हैं। सत्य है, विधाता के विपरीत  
होने पर सब कोई विपरीत हो जाते हैं ॥१॥

\*\*\* परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥ सो मैं सुनब सहब सुखु मानी।  
अंतहुँ कीच तहाँ जहँ पानी ॥२॥

भावार्थ:

श्री रामचंद्रजी और सीताजी को छोड़कर जगत् में कोई यह नहीं कहेगा कि इस अनर्थ में मेरी  
सम्मति नहीं है। मैं उसे सुखपूर्वक सुनूँगा और सहूँगा, क्योंकि जहाँ पानी होता है, वहाँ अन्त में  
कीचड़ होता ही है ॥२॥

\*\*\* डरु न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू ॥ एकइ उर बस दुसह दवारी।  
मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी ॥३॥

भावार्थ:

मुझे इसका डर नहीं है कि जगत् मुझे बुरा कहेगा और न मुझे परलोक का ही सोच है। मेरे हृदय  
में तो बस, एक ही दुःसह दावानल धधक रहा है कि मेरे कारण श्री सीता-रामजी दुःखी हुए ॥३॥

\*\*\* जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा ॥ मोर जनम रघुबर बन ल्सी।  
झूठ काह पछिताउँ अभागी ॥४॥

भावार्थ:

जीवन का उत्तम लाभ तो लक्ष्मण ने पाया, जिन्होंने सब कुछ तजकर श्री रामजी के चरणों में मन लगाया। मेरा जन्म तो श्री रामजी के वनवास के लिए ही हुआ था। मैं अभागा झूठ-मूठ क्या पछताता हूँ?॥4॥

दोहा :

\*\*\* आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ। देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥182॥

भावार्थ:

सबको सिर झुकाकर मैं अपनी दारुण दीनता कहता हूँ। श्री रघुनाथजी के चरणों के दर्शन किए बिना मेरे जी की जलन न जाएगी॥182॥

चौपाई :

\*\*\* आन उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥ एकहिं आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥1॥

भावार्थ:

मुझे दूसरा कोई उपाय नहीं सूझता। श्री राम के बिना मेरे हृदय की बात कौन जान सकता है? मन में एक ही आँक (निश्चयपूर्वक) यही है कि प्रातः काल श्री रामजी के पास चल दूँगा॥1॥

\*\*\* जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥2॥

भावार्थ:

यद्यपि मैं बुरा हूँ और अपराधी हूँ और मेरे ही कारण यह सब उपद्रव हुआ है तथापि श्री रामजी मुझे शरण में सम्मुख आया हुआ देखकर सब अपराध क्षमा करके मुझ पर विशेष कृपकरेंगे॥2॥

\*\*\* सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥3॥

भावार्थ:

श्री रघुनाथजी शील, संकोच, अत्यन्त सरल स्वभाव, कृपा और स्नेह के घर हैं। श्री रामजी ने कभी शत्रु का भी अनिष्ट नहीं किया। मैं यद्यपि टेढ़ा हूँ पर हूँ तो उनका बच्चा और गुलाम ही॥3॥

\*\*\* तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥4॥

भावार्थ:

आप पंच (सब) लोग भी इसी मैं मेरा कल्याण मानकर सुंदर वाणी से आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए, जिसमें मेरी विनती सुनकर और मुझे अपना दास जानकर श्रीरामचन्द्रजी राजधानी को लौट आवें॥4॥

दोहा :

\*\*\* जद्यपि जनमु कुमातु तें में सठु सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर  
भरोस॥183॥

भावार्थ:

यद्यपि मेरा जन्म कुमाता से हुआ है और मैं दुष्ट तथा सदा दोषयुक्त भी हूँ तो भी मुझे श्री  
रामजी का भरोसा है कि वे मुझे अपना जानकर त्यागेंगे नहीं॥183॥

चौपाई :

\*\*\* भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥ लोग बियोग बिषम बिष दागे।  
मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥॥

भावार्थ:

भरतजी के वचन सबको प्यारे लगे। मानो वे श्री रामजी के प्रेमरूपी अमृत में पगे हुए थे। श्री  
रामवियोग रूपी भीषण विष से सब लोग जले हुए थे। वे मानो बीजसहित मंत्र को सुनते ही  
जाग उठे॥1॥

\*\*\* मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥ भरतहि कहहिं सराहि सराही।  
राम प्रेम मूरति तनु आही॥2॥

भावार्थ:

माता, मंत्री, गुरु, नगर के स्त्री-पुरुष सभी स्नेह के कारण बहुत ही व्याकुल होगए। सब भरतजी  
को सराह-सराहकर कहते हैं कि आपका शरीर श्री रामप्रेम की साक्षात मूर्ति ही है॥2॥

\*\*\* तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥ जो पावँरु अपनी जड़ताई।  
तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥3॥

भावार्थ:

हे तात भरत! आप ऐसा क्यों न कहें। श्री रामजी को आप प्राणों के समान प्यारे हैं। जो नीच  
अपनी मूर्खता से आपकी माता कैकेयी की कुटिलता को लेकर आप पर सन्देह करेगा,॥3॥

\*\*\* सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसिहि कल्प सत नरक निकेता॥ अहि अघ अवगुन नहिं मनि  
गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥4॥

भावार्थ:

वह दुष्ट करोड़ों पुरखों सहित सौ कल्पों तक नरक के घर में निवास करेगा। साँप के पाप और  
अवगुण को मणि नहीं ग्रहण करती, बल्कि वह विष को हर लेती है और दुःख तथा दरिद्रता को  
भस्म कर देती है॥4॥

दोहा :

\*\*\* अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह। सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु  
दीन्ह॥184॥

भावार्थ:

हे भरतजी! वन को अवश्य चलिए, जहाँ श्री रामजी हैं, आपने बहुत अच्छी सलाहविचारी। शोक समुद्र में डूबते हुए सब लोगों को आपने (बड़ा) सहारा दे दिया॥184॥

चौपाई :

\*\*\* भा सब के मन मोदु न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥ चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरतु प्राणप्रिय भे सबही के॥1॥

भावार्थ:

सबके मन में कम आनंद नहीं हुआ (अर्थात् बहुत ही आनंद हुआ)! मानो मेघों की गर्जना सुनकर चातक और मोर आनंदित हो रहे हों। (दूसरे दिन) प्रातःकाल चलने का सुंदर निर्णय देखकर भरतजी सभी को प्राणप्रिय हो गए॥1॥

\*\*\* मुनिहि बंदि भरतहि सिरु नाई। चले सकल घर बिदा कराई॥ धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेहु सराहत जाहीं॥2॥

भावार्थ:

मुनि वशिष्ठजी की वंदना करके और भरतजी को सिर नवाकर, सब लोग विदा लेकर अपने-अपने घर को चले। जगत में भरतजी का जीवन धन्य है, इस प्रकार कहते हुए वे उनके शील और स्नेह की सराहना करते जाते हैं॥2॥

\*\*\* कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलै कर साजहिं साजू॥ जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदनि मारी॥3॥

भावार्थ:

आपस में कहते हैं, बड़ा काम हुआ। सभी चलने की तैयारी करने लगे। जिसको भी घर की रखवाली के लिए रहो, ऐसा कहकर रखते हैं, वही समझता है मानो मेरी गर्दन मारी गई॥3॥

\*\*\* कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू ॥॥

भावार्थ:

कोई-कोई कहते हैं- रहने के लिए किसी को भी मत कहो, जगत में जीवन का लाभ कौन नहीं चाहता?॥4॥

दोहा :

\*\*\* जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥185॥

भावार्थ:

वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता, भाई जल जाए जो श्री रामजी के चरणों के सम्मुख होने में हँसते हुए (प्रसन्नतापूर्वक) सहायता न करे॥185॥